THE TIMES OF INDIA

Date: 25-04-18

Changed Reality

Revocation of AFSPA will help normalisation of north-east

TOI Editorials

The Centre's decision to withdraw the Armed Forces Special Powers Act (AFSPA) totally from Meghalaya as well as from eight out of 16 police stations in Arunachal Pradesh, with effect from March 31, is a shot in the arm for these regions. The Centre's move was motivated by the fact that insurgency-related incidents in the north-east have come down by 85% from peak levels almost two decades ago. In fact, areas of Meghalaya and Arunachal Pradesh bordering Assam were declared disturbed in 1991 to avoid a spillover of insurgency by Assam-based outfits like the United Liberation Front of Asom (Ulfa). However, the security situation has changed significantly today with Ulfa – main pro-talks faction – and other big insurgent groups like the Naga NSCN (I-M) entering into ceasefire agreements and negotiations with government.

True, AFSPA continues to be in force in the whole of Assam and Nagaland, and all of Manipur except the Imphal municipal area. But the law – which gives special powers and immunity to the armed forces deployed in disturbed areas – is already loosely implemented in large parts of Assam. Neighbouring Tripura completely revoked it in 2015. All of this indicates a change in ground realities and exemplifies the need to expeditiously withdraw the heavy-handed security arrangements. The continued imposition of AFSPA would be onerous and hinder the normalisation of the north-east region.

Besides, the north-east states comprise a critical pillar of the government's Act East policy. The policy aims to make these states serve as a bridge between the rest of India and southeast Asia, boosting two-way trade and other exchanges. That will be inhibited if AFSPA remains in place. If government wants investors to flock to the north-east, it must create the right atmosphere. The same goes for tourism – the north-east is blessed with abundant natural beauty, but tourists will flock to the region only if travel and movement are made easy.

With development and connectivity improving in the north-east, removal of AFSPA is certain to add to the momentum for change. Apart from unfortunate incidents like the Manorama Devi case in 2004, the imposition of AFSPA also created vested interests that benefited from the extraordinary security arrangements and special status. Perhaps a metric can be devised for levels of insurgency in various parts of the north-east, and AFSPA automatically revoked if it falls below a defined threshold value.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 25-04-18

Follow up lifting of AFSPA with repeal

ET Editorials

The government has done well to remove all of Meghalaya and parts of Arunachal Pradesh from the ambit of the Armed Forces (Special Powers) Act (AFSPA), which gives security forces immunity for their actions in areas declared as disturbed. That is progress, but the real challenge is to repeal the law altogether. Such a law has no place in a democracy and its scrapping has been recommended by various committees and commissions appointed by the government. Its core impunity has been frowned upon by the Supreme Court. The law results in the armed forces of the state carrying out atrocities against citizens and producing more alienation and inspiration for violence than is quelled by use of the law.

The army claims it cannot enforce law and order without impunity and politicians have plumped for the safety of giving in to the armed forces' conditionality rather than risk an uprising that goes out of hand. Only strong political will can remove the law. After news broke of AFSPA being lifted in parts of the northeast, the demand has already been made for Kashmir. Even as political consensus on repeal of the law is coagulated, the government can exempt regions removed from the border, across which terrorists are infiltrated into India, from the ambit of the law. While the breakdown of trust between the government and the people is near-total, political engagement in good faith remains the best bet and lifting AFSPA would help matters.

The state police forces can and should stand at the ready to confront disrupters determined to not give political engagement a chance. Truth and reconciliation end civil strife; brute suppression does not. AFSPA corrodes the voluntary allegiance of free people, the only glue that can hold together a diverse nation like India.

नईदुनिया

Date: 25-04-18

बदलती दुनिया में उभरता भारत

गुरजीत सिंह, (लेखक जर्मनी, इंडोनेशिया व इथियोपिया में भारत के राजदूत रहे हैं)

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का हालिया यूरोपीय दौरा कई मायनों में खास रहा। राष्ट्रमंडल सम्मेलन से इतर नॉर्डिक देशों के साथ संवाद और बर्लिन में उनका कुछ समय रुकना नई रणनीति का ही हिस्सा था। मोदी सरकार की विदेश नीति में मेलजोल को लेकर प्राथमिकताएं शुरुआत से ही तय थीं। एक अप्रत्याशित कदम उठाते हुए प्रधानमंत्री मोदी ने अपने शपथ ग्रहण समारोह में दक्षेस के सभी राष्ट्रप्रमुखों को बुलाया था। इसके बाद अमेरिका, चीन, रूस, जापान और जर्मनी के अलावा फ्रांस और ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली व महत्वपूर्ण देशों को साधने की कवायद शुरू हुई। फिर इसका दायरा और बढ़ा और कई क्षेत्रीय संगठन साथ आए। इस कड़ी में 2015 में अफ्रीका सम्मेलन और इस साल आसियान का नाम लिया जा सकता है। नॉर्डिक पहल भी इस खांचे में पूरी तरह सटीक बैठती है। बहुपक्षीय मेलजोल अब लगातार तेजी पकड़ रहा है। कुछ दिन पूर्व अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा सम्मेलन और अब राष्ट्रमंडल बैठक में यह पूरी तरह झलकता है।

मोदी के यूरोप दौरे की शुरुआत स्वीडन के साथ हुई। स्वीडन ने भारत के साथ एक उभरती शक्ति के तौर पर मेलजोल बढ़ाने की बात कही जो आर्थिक मामलों पर ठोस और वास्तविक प्रगति दर्शाता है। तमाम देश भारतीय बाजार के आकार और उसके महत्व की अनदेखी नहीं कर सकते और स्वीडन दौरे से यह बात एक बार फिर साबित हुई। स्वीडन मेक इन इंडिया, स्किल इंडिया और डिजिटल इंडिया का प्रबल समर्थक है। भारत में स्वीडन का निवेश लगातार बढ़ रहा है, किंतु व्यापार सीमित है। साथ ही वह भारतीय छात्रों को भी बड़ी तादाद में आकर्षित कर रहा है। स्वीडिश प्रधानमंत्री स्टीफन लॉफेन भी प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के साथ बहुत गर्मजोशी से पेश आए और उन्होंने भी अप्रत्याशित नॉर्डिक सम्मेलन की सह-मेजबानी में भी कोई हिचक नहीं दिखाई। इसमें डेनमार्क के प्रधानमंत्री एलआर राससमुसीन, फिनलैंड के प्रीमियर जुहा सिपिला, आइसलैंड के प्रीमियर कार्टिन जैकोब्सदोतिर और नॉर्वे की प्रीमियर एर्ना सोल्बर्ग ने भी शिरकत की।

सम्मेलन का शीर्षक ही था 'भारत-नॉर्डिक सम्मेलन : साझा मूल्य एवं परस्पर समृद्धि। यह भारत-आसियान सम्मेलन की ही तरह था, जिसके लिए वही प्रारूप अपनाया गया। हालांकि नॉर्डिक देशों के लिए यह बहुत अनोखा था, क्योंकि वे समूह के रूप में किसी देश के राष्ट्रप्रमुख की अगवानी नहीं करते। नॉर्डिक देशों ने भारत के साथ वैश्विक सुरक्षा, आर्थिक वृद्धि, नवाचार और जलवायु परिवर्तन जैसे मसलों पर साथ मिलकर काम करने पर सहमति जताई। उन्होंने स्वीकार किया कि एक-दूसरे से जुड़ी हुई दुनिया में नवाचार और डिजिटल रूपांतरण ही वृद्धि को धार देता है और भारत एवं नॉर्डिक देशों के बीच बढ़ते मेलजोल के मूल में यह पहलू शामिल है। मुक्त व्यापार, पीपीपी मॉडल, सतत विकास और नवाचार जैसे मुद्दे इसमें प्रमुखता से छाए रहे। इससे दुनिया में भारत की बढ़ती ताकत का एहसास हुआ। यहां यूरोपीय संघ की छाया का भी असर देखने को नहीं मिला। पांच में से केवल दो नॉर्डिक देश ही यूरोपीय संघ के सदस्य हैं। तीन नाटो सदस्य हैं। इसीलिए व्यापार एवं भूमंडलीकरण में रिश्तों को परवान चढ़ाने पर सहमति बनी, जो यूरोपीय संघ के मंच पर दशकों से अटकी हुई है। उनमें से तमाम ईएफटीए का हिस्सा हैं, जिनके साथ बातचीत का सही दिशा में बढ़ना एक सकारात्मक संकेत है। भारत की बढ़ती रक्षा जरूरतों को पूरा करने के अवसरों की भी अनदेखी नहीं हुई और अगर यह पहल सिरे चढ़ती है तो मेक इन इंडिया को बहुत प्रोत्साहन मिलेगा। खासतौर से स्वीडन ग्रिपेन लड़ाकू विमान में भारत को सहयोग देने के लिए बहुत उत्सुक है।

लंदन प्रधानमंत्री मोदी के दौरे का दूसरा पड़ाव रहा, जहां उन्होंने ब्रिटिश प्रधानमंत्री थेरेसा मे के साथ द्विपक्षीय वार्ता के साथ-साथ राष्ट्रमंडल सम्मेलन में भी भाग लिया। हालियादौर में ब्रिटेन के साथ भारत के रिश्ते उस गति से परवान नहीं चढ़े हैं, जैसी गर्मजोशी फ्रांस और जर्मनी के साथ बढ़ी है। लेकिन ब्रेक्जिट के बाद बने हालात में ब्रिटेन ने भारत को प्राथमिक सूची में रखा हुआ है। यूरोपीय संघ से ब्रिटेन के अलग होने के बाद भारत के हाथ बेहतर दांव लग सकता है, लेकिन फिर भी आवाजाही और वीजा के मसले अब ब्रिटेन के स्तर पर ही तय होंगे। अब यह ब्रिटेन पर निर्भर करता है कि भारत का भरोसा जीतने के लिए वह इन मुद्दों पर कितनी तत्परता से कदम उठाकर ब्रेक्जिट के बाद अपनी संभावनाएं तलाशता है। भारत की मांग है कि पर्यटकों और छात्रों को आसानी से ब्रिटिश वीजा मिले। वहीं यूरोपीय संघ के तमाम देशों की तरह ब्रिटेन को भी लगता है कि तकनीशियनों के लिए स्पेशल विंडो खोलकर इस मसले को सुलझाया जा सकता है। भगोड़ों और अवैध प्रवासियों से जुड़ा सियासी मसला भारत के लिए कड़वाहट का सबब बन गया है। यह बात फ्रांस या जर्मनी के साथ रिश्तों के आड़े नहीं आती। सामरिक अर्थों में ब्रिटेन एक अहम साझेदार है जो कई मामलों में भारत जैसी सोच ही रखता है व वैश्विक स्तर पर भारत की व्यापक भूमिका का भी पक्षधर है।

लंदन दौरे का दूसरा भाग राष्ट्रमंडल सम्मेलन में बहुपक्षीय सहयोग में नूतन प्रयोग से जुड़ा था। अपनी भूमिका की समझ को लेकर राष्ट्रमंडल की सोच में आया बदलाव इसका खास पहलू रहा। इसके लिए ब्रिटेन के साथ ही कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड जैसे देशों के व्यावहारिक आकलन का भी शुक्रगुजार होना पड़ेगा, जो अन्य सदस्य देशों के साथ मेलजोल में अक्सर मानवीय व नैतिक दृष्टिकोण अपनाते हैं। साथ ही एक ताकत के रूप में भारत को मान्यता मिलना भी सम्मेलन की एक थाती रही। अफ्रीका, कैरेबियाई और दक्षिण प्रशांत के तमाम राष्ट्रमंडल देशों ने भारत के साथ सहयोग की जो पींगें बढ़ाईं, उन्हें अब बेहतर रूप से मान्यता मिली है। ऑस्ट्रेलिया भी भारत के साथ कई मोर्चों पर सक्रिय है। यानी राष्ट्रमंडल समूह भारत को बेहतर नजरिये से देखता है और जहां ब्रिटिश शक्ति का पराभव हो रहा है, वहीं भारत के उदय को देखते हुए इसकी सक्रिय भागीदारी राष्ट्रमंडल को और ताकत देगी। यह राष्ट्रमंडल को फ्रैंकोफिन मॉडल के बजाय लूजोफोन मॉडल की ओर अग्रसर करेगा, जहां पुर्तगाल की भूमिका सिकुड़ रही है तो ब्राजील का दबदबा बढ़ रहा है। मोदी के दौरे का अंतिम पड़ाव बर्लिन रहा। एक साल से भी कम समय में यह प्रधानमंत्री मोदी और जर्मन चांसलर मर्केल की तीसरी बैठक थी। यहां भूमंडलीकरण की रफ्तार तेज करने के उपायों के साथ ही अक्षय ऊर्जा और कौशल विकास में दोनों देशों के प्रगाढ़ सहयोग को बढ़ाने पर सार्थक चर्चा हुई। भारत की विकास गाथा में और अधिक जर्मन निवेश की जरूरत पर भी बात हुई।

यूरोपीय दौरे का लेखाजोखा यही रहा कि इसमें भारतीय कूटनीति की नई शैली के दर्शन हुए, जो कहीं अधिक व्यावहारिक है। भारत ने दर्शाया कि वह अपनी सहयोगी भूमिका निभाने और मुक्त व्यापार, जलवायु परिवर्तन और नवाचार जैसे वैश्विक लक्ष्यों में अपने योगदान से नहीं हिचकेगा।

देश को पीछे खींचने वाले राज्यों का विकास कैसे हो?

मानव विकास सूचकांक में भारत दुनिया के 188 देशों में 133 वें पायदान पर है।

संपादकीय

नीति आयोग के सीईओ अमिताभ कांत ने सही कहा है कि देश के उत्तर और पूर्व के राज्य उसे पिछड़ा बनाए रखने के लिए जिम्मेदार हैं। जामिया मिलिया विश्वविद्यालय में खान अब्दुल गफ्फार खान स्मृति व्याख्यान में उन्होंने स्पष्ट तौर पर बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान का उल्लेख करते हुए कहा कि इन राज्यों के कारण मानव विकास सूचकांक में भारत दुनिया के 188 देशों में 133 वें पायदान पर है। विडंबना देखिए कि आजादी की लड़ाई में सर्वाधिक योगदान देने वाले और आजादी के बाद देश की राजनीति पर गहरी पकड़ रखने वाले ये राज्य विकास के मोर्चे पर पिछड़े ही रह गए।

आज भी देश के सबसे पिछड़े जिलों में कई जिले इन्हीं राज्यों से हैं। आबादी के लिहाज से सबसे बड़े और देश को सबसे ज्यादा प्रधानमंत्री देने वाले राज्य उत्तर प्रदेश का श्रावस्ती जनपद अपने पिछड़ेपन और गोंडा जिले अपनी गंदगी के कारण देश में शीर्ष पर है। श्रावस्ती वह जनपद है, जिसका नगर बौद्धकाल में इतना समृद्ध था कि वहां हर वस्तु मिलती थी और उसके सेठ अनाथ पिंडक ने स्वर्ण मुद्राएं बिछाकर बुद्ध के लिए गंधकुटीर की जमीन खरीदी थी।

दरअसल बीमारू राज्य कहे जाने वाले ये प्रदेश दक्षिणी और पश्चिमी प्रदेशों के मुकाबले इसलिए पिछड़े हुए हैं, क्योंकि यहां राजनीतिक आंदोलन तो हुए लेकिन सामाजिक सुधार के आंदोलन कम से कम हुए। ध्यान देने की बात है कि 1991 में शुरू हुए उदारीकरण के दौर में उत्तर भारत के राज्य मंडल और मंदिर के आंदोलनों में उलझे रहे तो दक्षिणी और पश्चिमी राज्य भूमंडलीकरण का लाभ लेते रहे। उत्तर भारत में दिल्ली और एनसीआर के अलावा पंजाब और हरियाणा को जरूर भूमंडलीकरण का लाभ मिला लेकिन बिहार, राजस्थान अपने सामंती ढांचे से जूझता रहा तो उत्तर प्रदेश भगवान राम के मंदिर आंदोलन में उलझा रहा। पूरे देश की राजनीति तय करने के जोश में इन राज्यों ने अपने विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया। यह एक तरह की बादशाहत की बीमारी है।

इन राज्यों को विकास की जब तक सुध आई तब तक दक्षिण के राज्य काफी आगे निकल गए। इसके विपरीत दक्षिण के राज्यों के नेताओं का सरोकार राष्ट्रीय न होकर क्षेत्रीय रहा है। आज सवाल यह है कि विकास का यह असंतुलन कैसे दूर होगा। नीति आयोग के सीईओ की तरफ से उधर ध्यान दिलाया जाना तो उचित है लेकिन राजनेताओं का ध्यान बदले बिना उसका समाधान नहीं होगा।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 24-04-18

चमकीली संभावनाएं

जयंतीलाल भंडारी

एक ओर जब अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, सिंगापुर तथा ब्रिटेन सहित दुनिया के कुछ विकसित देश भारतीय आईटी प्रफेशनल्स के कदमों को रोकना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर देश और दुनिया में आईटी क्षेत्र में भारत की संभावनाओं का नया परिदृश्य दिखाई दे रहा है। हाल में प्रकाशित भारत की चमकीली आईटी संभावनाएं प्रस्तुत कर रहीं कुछ नई नियंतण्र रिपोटरे में सबसे महत्वपूर्ण वर्ल्ड बैंक द्वारा जारी की गई रिपोर्ट है। इसके अनुसार, जिस तरह अमेरिका के शहर सैनजस सिलिकॉन वैली ने पूरी दुनिया में सबसे बड़े आईटी हब के रूप में पहचान बनाई है, उसी तरह अब भारत पांच साल में दुनिया की नई सिलिकॉन वैली के रूप में पहचान बनाने की संभावनाएं रखता है। यह भी कहा गया है कि इसके लिए भारत इनोवेशन के अनुकूल माहौल को विस्तार देने की पूरी संभावनाएं रखता है। एक अन्य नियंतण्र संगठन की नई अध्ययन रिपोर्ट में कहा गया है कि बेंगलुरू 2020 तक सिलिकॉन वैली को पछाड़ कर दुनिया का सबसे बड़ा आईटी क्लस्टर होगा। यह भी महत्वपूर्ण है कि जापान के उद्योग और व्यापार को बढ़ावा देने वाली सरकारी एजेंसी जापान विदेश व्यापार संगठन (जेईटीआरओ) ने अपनी रिपोर्ट 2018 में कहा है कि जापान की नई औद्योगिक और कारोबारी आवश्यकताओं के मद्देनजर जापान ने आगामी दो वर्षो में भारत से दो लाख आईटी पेशेवरों की पूर्ति हेतु कार्ययोजना बनाई है। ऐसे में निश्चित रूप से भारत पूरी दुनिया में आईटी की एक नई शक्ति के रूप में परचम फहराते हुए आगे बढ़ते हुए दिखाई दे सकेगा।

नियंतण्र स्तर पर आईटी सेक्टर में भारत की धाक बरकरार है। वैसे तो एशिया-प्रशांत क्षेत्र में कई और देश आईटी हब के रूप में उभर कर सामने आए हैं, लेकिन इनमें से कोई भी इस सेक्टर में भारत के वर्चस्व को चुनौती नहीं दे पा रहा है। जानी-मानी रिसर्च फर्म गार्टनर ने कहा है कि जैसे-जैसे दुनिया में नॉलेज प्रोसेस आउटसोर्सिंग (केपीओ) उद्योग की मांग तेजी से बढ़ रही है, वैसे-वैसे इस उद्योग में भारत के कारोबार की संभावनाएं बढ़ रही हैं। देश और दुनिया के आईटी विशेषज्ञों का कहना है कि भारत में आउटसोर्सिंग पर खतरे नहीं हैं। दुनिया का कोई भी देशअपने उद्योग और व्यवसाय को किफायती रूप से चलाने के लिए भारत की आउटसोर्सिंग इंडस्ट्री को नजरअंदाज नहीं कर सकता। बेशक, दुनिया में भारत को आउटसोर्सिंग के लिए सबसे सस्ता, सुरक्षित और गुणवत्ता वाला देश माना जा रहा है। आउटसोर्सिंग के क्षेत्र में भारत की प्रगति के पीछे एक कारण यह भी है कि यहां संचार का मजबूत ढांचा कायम हो चुका है। दूरसंचार उद्योग के निजीकरण से नई कंपनियों के अस्तित्व में आने से दूरसंचार की दरों में भारी गिरावट आई है।

उच्च कोटि की त्वरित सेवा, आईटी एक्सपर्ट और अंगेजी में पारंगत युवाओं की बड़ी संख्या ऐसे कारण हैं, जिनकी बदौलत भारत पूरे विश्व में आउटसोर्सिंग के क्षेत्र में अग्रणी बना हुआ है। कल तक जो भारत प्रतिभा पलायन (ब्रेन ड्रेन) से चिंतित रहता था, आज आईटी के क्षेत्र में प्रतिभा वापसी लाभ (ब्रेन गेन) से विकास की नई डगर पर तेजी से आगे बढ़ने की संभावनाएं दिखा रहा है। लेकिन इन सब भारतीय आईटी विशेषज्ञताओं के साथ भारत में नई सिलिकॉन वैली को आकार देने और भारतीय आईटी प्रफेशनल्स की नई नियंतण्र उपयोगिता बनाने के लिए हमें कई बातों पर ध्यान देना

होगा। भारतीय आईटी कंपनियों द्वारा तकनीक में बदलाव और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, रॉबोटिक्स और क्लाउड प्लेटफॉर्म जैसी तकनीकों को तेजी से अपनाया जाना जरूरी होगा। यह भी ध्यान रखना होगा कि ऐसी सॉफ्टवेयर एप्लीकेशन बढ़ाई जाएं जो बिना किसी अड़चन के चलें और इन्हें स्मार्टफोन जैसी डिवाइसों पर भी इस्तेमाल किया जा सके।

चूंकि सॉफ्टवेयर उद्योग में हमारी अगुवाई की मुख्य वजह हमारी सेवाओं और प्रोग्राम्स का सस्ता होना है, अतएव इस स्थिति को बरकरार रखने के लिए हमें तकनीकी दक्ष लोगों की उपलब्धता बनाए रखनी होगी। भारतीय कंपनियों को आगे बढ़कर अपनी क्षमता निर्माण को मजबूत करना होगा। एक ऐसे क्षेत्र में जहां पुरानी आईटी तकनीक बहुत जल्दी बाजार से बाहर हो जाती हैं, वहां नई तकनीकों के साथ तालमेल बिठाना बेहद जरूरी है। ऐसे में आईटी कंपनियों द्वारा कर्मचारियों को डिजिटल तकनीक और डिजाइन थिंकिंग जैसे नये तकनीकी प्रशिक्षण पर जोर दिया जाना चाहिए ताकि आईटी का कारोबारी माहौल बना रह सके और आईटी उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। आईटी कंपनी से जुड़ने वाले हर युवा को केवल प्रोग्रामिंग के लिए ही नहीं वरन मार्केटिंग तथा फाइनेंस के लिए भी कुछ कोर्स सीखने की ओर आगे बढ़ना होगा। भारतीय आईटी कंपनियों को कोडिंग और मेंटेनेंस से आगे बढ़कर समन्वित विशेषज्ञ सेवाओं की पेशकश भी करनी होगी।

यह जरूरी होगा कि सरकार द्वारा आईटी क्षेत्र में कौशल प्रशिक्षण को दी जा रही प्राथमिकता के नतीजे धरातल पर दिखाई दें। इस परिप्रेक्ष्य में पिछले दिनों इलेक्ट्रॉनिक एवं सूचना प्रौद्यगिकी मंत्रालय ने तकनीकी क्षेत्र की कंपनियों के संगठन नैस्काम के साथ आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, वर्चुअल रियल्टी, रोबोटिक प्रोसेस ऑटमेशन, इंटरनेट ऑफ थिंग्स, बिग डाटा एनालिसिस, 3डी ¨पट्रिंग, क्लाउड कंप्यूटिंग, सोशल मीडिया-मोबाइल जैसे आठ नये तकनीकी क्षेत्रों में 55 नई भूमिकाओं में 90 लाख युवाओं को अगले तीन साल में प्रशिक्षित करने का जो अनुबंध किया है, उसे कारगर तरीके से कार्यान्वित करना होगा। जरूरी होगा कि नैस्कॉम द्वारा कौशल प्रशिक्षण के लिए विश्व के सबसे बेहतर कुशली प्रशिक्षकों और विषय-वस्तु मुहैया कराने वाली व नियंतण्र स्तर की विभिन्न संस्थाओं से सहयोग लिया जाए। देश में आईटी क्षेत्र के विकास से संबंधित इन बातों पर ध्यान दिया गया व आईटी क्षेत्र में इनोवेशन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई तो आशा कर सकते हैं कि विश्व बैंक और अन्य एजेंसियों की रिपोटरे में भारत में नई सिलिकॉन वैली बनने की जो संभावनाएं प्रस्तुत की गई हैं, वे चमकीली संभावनाएं आईटी हब बेंगलुरू में मूर्तरूप लेंगी। साथ ही, भारत दुनिया में आईटी की एक नई शक्ति के रूप में परचम फहराते हुए आगे बढ़ता हुआ दिखाई देगा।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 24-04-18

प्रस्ताव खारिज

संपादकीय

यह तो होना ही था। प्रधान न्यायाधीश दीपक मिश्रा के खिलाफ कांग्रेस के महाभियोग प्रस्ताव की यात्रा ज्यादा लंबी नहीं होगी, यह तो शुरू से ही माना जा रहा था। देखने वाली बात यही थी कि किस स्तर पर इसका खेल खत्म होगा? अगर

उप-राष्ट्रपति और राज्यसभा के सभापति वेंकैया नायडू इसे खारिज न भी करते, तब भी इसके बहुत आगे जाने की उम्मीद न थी। उसके बाद यह हो सकता था कि तीन जजों की इस पर निर्णय के लिए बनाई गई समिति में यह गिर जाता। मान लीजिए, यह वहां से भी आगे बढ़ जाता, तो सदन में मतदान के समय इसका गिरना तय ही था। कई विपक्षी दल इसके समर्थन में नहीं थे। खुद कांग्रेस के कई नेताओं की भी इसे लेकर असहमतियां थीं। राज्यसभा में कांग्रेस के सबसे बड़े नेता मनमोहन सिंह ने ही इस प्रस्ताव पर दस्तखत नहीं किए थे।

यही हाल कांग्रेस के बडे नेता पी चिदंबरम का भी था। और तो और, सुप्रीम कोर्ट में न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा की विरोधी लॉबी माने जाने वाले जजों ने भले ही उनके खिलाफ मोर्चा लिया हो, लेकिन वे भी महाभियोग चलाए जाने के पक्ष में कतई नहीं हैं। और शायद कांग्रेस को भी महाभियोग प्रस्ताव के बहुत आगे जाने का भरोसा नहीं था, इसीलिए उसने मीडिया के आगे प्रस्ताव का ब्योरा रख दिया था। कांग्रेस देश की सबसे पुरानी पार्टी है और संसदीय राजनीति का जितना अनुभव उसके पास है, किसी और के पास नहीं है। उसे अच्छी तरह पता होगा कि इस तरह के प्रस्ताव का ब्योरा सार्वजनिक नहीं किया जाता। संभव है कि उसकी दिलचस्पी महाभियोग चलाने से ज्यादा दीपक मिश्रा से जुड़े मुद्दों पर देश का ध्यान खींचने में हो। उप-राष्ट्रपति ने महाभियोग प्रस्ताव को खारिज करने के विस्तृत कारण गिनाए हैं, जो यही कहते हैं कि आरोपों में कोई दम नहीं है। कांग्रेस अब उनके फैसले को अदालत में चुनौती देगी। अदालत की जो लड़ाई वह राजनीतिक स्तर पर लड़ना चाहती थी, उसे अब अदालत में जाकर लड़ना होगा।

यह कोई नहीं मानेगा कि कांग्रेस का असल निशाना न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा ही हैं। उनके हटने से न तो कांग्रेस को कुछ मिलने वाला था और न ही उसका कोई भला होने वाला था। प्रधान न्यायाधीश के बहाने वह प्रधानमंत्री पर निशाना साधना चाहती थी, यह शुरू से ही काफी स्पष्ट था। मान लीजिए, कांग्रेस इसमें सफल हो भी जाती, तो इसका राजनीतिक नफा-नुकसान कितनी दूर तक जा पाता, इसका ठीक-ठीक आकलन संभव नहीं है। पर यह तय है कि महाभियोग राजनीति, न्यायपालिका और लोकतंत्र किसी के लिए भी अच्छा नहीं होता।

हमारी सभी लोकतांत्रिक संस्थाएं अपनी साख खोती जा रही हैं। महाभियोग इस प्रक्रिया को तेज ही कर सकता था। इस प्रक्रिया को रोकना है, तो सभी को अपने गिरेबान में झांकना होगा। राजनीतिक दलों से भले ही बहुत उम्मीद न हो, लेकिन प्रधान न्यायाधीश को यह जरूर सोचना चाहिए कि उनके सहयोगी उनसे नाराज क्यों हैं? और देश के सर्वोच्च न्यायालय में वह सब क्यों हो रहा है, जिसके चलते न्यायपालिका को राजनीति में खींचने के अवसर बन रहे हैं? उप-राष्ट्रपति ने अच्छा किया कि प्रस्ताव खारिज करने के पूरे कारण विस्तार से बताए। कारण जितने भी तार्किक हों, ये सवाल तो उठने ही लगे हैं कि प्रस्ताव को खारिज की ऐसी भी क्या जल्दी थी? यह बात अलग है कि उन्होंने महाभियोग प्रस्ताव को वहां पहुंचा दिया, जहां अंतत: उसे पहुंचना ही था।

Date: 24-04-18

बदलती हवा और गैर-पेशेवर पुलिस

विभूति नारायण राय, पूर्व आईपीएस अधिकारी

पिछले कुछ दिनों से भारतीय मर्दों या लड़कों के वहशीपन के किस्से मीडिया में छाए हुए हैं। ऐसा नहीं है कि ये पुरुष अचानक जानवर बन गए हैं। दुधमुंही बच्चियां, छोटी-बड़ी लड़कियां और यहां तक कि बूढ़ी औरतें भी पूरी तरह से भारतीय समाज में कभी सुरक्षित नहीं रही हैं। भारतीय संस्कृति की महानता के कुछ पैरोकारों के इन दावे पर कि इसके लिए तेजी से बढ़ती पाश्चात्य मूल्यों की नकल की प्रवृत्ति, फिल्में या महिलाओं के परिधान यौनिक उच्छृंखलता के जिम्मेदार हैं, सिर्फ हंसा जा सकता है। इस पर कोई गंभीर विमर्श नहीं हो सकता, क्योंकि भारतीय परिवारों, गांवों और कस्बों में जहां इन सब चीजों का दखल कम था, वहां भी महिलाएं बलात्कार से सुरक्षित थीं या हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कई समाजशास्त्रीय अध्ययनों से स्पष्ट है कि बच्चियां सर्वाधिक असुरक्षित अपने परिवार में या अपने परिचित माहौल में हैं। बलात यौन संबंधों की खबरें पीछे कुछ वर्षों से अधिक सिर्फ इसलिए आ रही हैं, क्योंकि अब मां-बाप, समाज या खुद पीड़िता किसी दुर्घटना को छिपाने की जगह उन्हें खुलकर बताने में गुरेज नहीं करती। पश्चिम में 'मी-टू' आंदोलन दृष्टिकोण में आ रहे इसी परिवर्तन का एक उदाहरण है। पाकिस्तान में, जो हमसे भी रूढ़ समाज है, हाल में एक फिल्मी सेलिब्रिटी के खिलाफ कई सहकर्मी महिलाओं द्वारा लगाया गया इसी तरह का आरोप उस समाज में भी परिवर्तन की बयार का ही नमूना है। इससे मिलता-जुलता एक आंदोलन भारतीय सोशल मीडिया में भी चल रहा है, जिसमें महिलाएं अधिकार के साथ घोषित कर रही हैं कि बलात्कार पीड़िता अपना मुंह क्यों ढके, मुंह तो शर्म से अपराधी को ढकना चाहिए। भारत में विचलित कर देने वाली खबरों का जो विस्फोट हुआ है, उसे भी इसी सामाजिक साहस का उदाहरण माना जा सकता है।

डर यह है कि कहीं मीडिया के ऐसे तमाम शोर-शराबे सिर्फ वक्ती उबाल बनकर न रह जाएं। यह आशंका कुछ हद तक सरकार की फौरी प्रतिक्रिया से सही भी साबित हो रही है। सरकार ने आनन-फानन मेंअध्यादेश के जरिए 12 साल से कम उम्र की बच्चियों के साथ बलात्कार करने वालों को फांसी पर लटकाने का प्रावधान लाने का फैसला कर लिया है। तुरत-फुरत के चक्कर में हम यह भूल गए हैं कि अमेरिका, चीन और इस्लामी मुल्कों को छोड़कर ज्यादातर सभ्य समाजों में मृत्युदंड समाप्त किया जा चुका है या क्रमश: किया जा रहा है। भारत धीरे-धीरे इसे खत्म करने के स्थान पर इसके अंतर्गत आने वाले अपराधों की संख्या बढ़ा रहा है, वह भी तब जब हम सबको मालूम है कि हमारी जेलों में बहुत सारे मृत्युदंड प्राप्त कैदी काल कोठरियों में सड़ रहे हैं। दो-चार साल में राजनीतिक कारणों से उनमें से किसी एक को फांसी पर चढ़ा दिया जाता है। अपराध शास्त्र का एक पुराना सिद्धांत है कि दंड की गंभीरता नहीं, बल्कि उसकी सुनिश्चितता से अपराध रुकते हैं। यदि हम यह सुनिश्चित कर सकें कि बलात्कारी को एक निश्चित अवधि के दंड की सजा अवश्य मिलेगी, तब भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ सकता है। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़ों के मुताबिक, बलात्कार के मामलों में दंड पाने वालों की संख्या एक चौथाई से भी कम है। कुछ मानवाधिकार संगठनों ने अभी से आशंका जाहिर करनी शुरू कर दी है कि फांसी का दंड निर्धारित होने के बाद लिखे जाने वाले मुकदमों की संख्या के साथ दंडित अभियुक्तों की संख्या में भी गिरावट आएगी।

पिछले दिनों दिल्ली महिला आयोग की एक्टिविस्ट अध्यक्ष स्वाति मालीवाल भी मृत्युदंड के पक्ष में अनशन पर बैठ गईं। सिर्फ उन्हें दोष देना व्यर्थ है, क्योंकि निर्भया कांड के बाद बहुत से मानवाधिकार कार्यकर्ता भी मृत्युदंड के पक्ष में खड़े हो गए थे। यह वही स्थिति है, जिसमें अंध देशभक्ति के ज्वार में बहने वाले आतंकवादियों को फांसी पर लटकाने की मांग करते हैं। निश्चित रूप यह किसी परिपक्व लोकतांत्रिक समाज की चेतना का लक्षण नहीं। हमें कानूनों और अदालती प्रक्रिया में ऐसे बदलाव पर क्यों नहीं सोचना चाहिए, जो अपराधी को निश्चित दंड दिलाने में समर्थ हों?

इस पूरी बहस में एक और मुद्दा छूटा जा रहा है। यह मुद्दा है भारतीय पुलिस के चरित्र और संगठन में बुनियादी परिवर्तन करने का। उन्नाव और कठुआ, **दोनों** ही मामलों में पुलिस पेशेवर संगठन की तरह व्यवहार न करके अपने राजनीतिक आकाओं को खुश करने में लगी थी। बलात्कार का आरोपी उन्नाव का विधायक **सत्ताधारी** पार्टी से संबंधित है। राजधानी से थाने तक जातिगत समीकरण उसके पक्ष में थे, इसलिए यह बड़ा स्वाभाविक था कि पीड़िता साल भर तक बडे-छोटे दरबारों के चक्कर लगाती रही और उसका मुकदमा तब दर्ज हुआ, जब उसके **पिता** की विधायक समर्थकों ने पीट-पीटकर हत्या कर दी। फिर मीडिया में मामला इतना उछल गया कि उसे दबाया नहीं जा सकता था। कठुआ में भी लगभग यही हुआ। सत्ता गठबंधन में **शामिल** दो दल, सांप्रदायिक कारणों से अलग-अलग **पीड़िता** और दोषियों के पक्ष में खड़े दिखाई दिए। मतभेद का सीधा असर कठुआ पुलिस पर दिखाई दे रहा था। पुलिस ने जो चार्जशीट दाखिल की है, उसका फैसला तो अदालत करेगी, पर जिस तरह से विवेचकों को मुख्यमंत्री द्वारा बार-बार बदला गया, उससे मन में संदेह होना लाजिमी है। उन्नाव में **आरोपियों** द्वारा प्रयास किया गया कि मामला सीबीआई के पास न जाने पाए, जबकि कठुआ में आरोपी मांग कर रहे हैं कि **विवेचना** सीबीआई को सौंप दी जाए।

यह समय है कि जब वक्ती उबाल के ठंडे पड़ जाने के बाद पुलिस सुधारों पर गंभीरता से **विमर्श** किया जाए। पुलिस को ज्यादा पेशेवर, विवेचना में दक्ष, बेहतर **उपकरणों** से सुसज्जित और प्रशिक्षित करके हम कठुआ या उन्नाव की पुनरावृत्ति रोक सकते हैं। बावजूद इसके कि पुलिस और कानून-व्यवस्था राज्यों का विषय है, इसमें कोई हर्ज नहीं है कि उन पर राजनीतिक आकाओं के नियंत्रण में कुछ कमी की जाए। तमाम पुलिस आयोगों की धूल खा रही फाइलों में यही सब अनुशंसाएं तो हैं, जिन्हें लागू करना अब बेहद जरूरी हो गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपने कई निर्णयों में इन्हीं सब पर बल दिया है। दुराचार पर चल रही राष्ट्रीय बहसों के दौरान इस गंभीर मुद्दे की लगभग उपेक्षा हो रही है। आम चुनाव में अब सिर्फ एक वर्ष रह गया है और यदि जनमत तैयार करने वाली कोई सार्थक बहस चल सके, तो संभव है कि हमारे राजनीतिक दल अपने चुनावी **घोषणापत्रों** में पुलिस सुधारों को भी उनकी वाजिब जगह दे दें।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 24-04-18

Farmers, forests and the future

In the battle over jungle and tribal land, deep mistrust divides natural allies.

Jay Mazoomdaar

As India gives shape to its new forest policy, the votaries of forest conservation and tribal rights have come out strongly against commercial extraction of forests that undermines both local communities and ecology. It is a timely show of strength since the draft policy seeks to measure the productivity of our forests by the quantity of timber harvested instead of the quality of biodiversity and eco-system services they host and provide. Historically, though, the two groups continually undercut each other even as India's appetite for growth devoured both forests and tribal land. Beneath the current truce, simmers the banal debate of rights versus conservation, fueled most recently by the historic march of the farmer and the forest-dweller from Nashik to Mumbai. Before the two resume sparring, examine this incongruity.

Why did forest-dwellers join a farmers' rally? Are farming solutions to be found inside forests? Isn't a forest-dwelling farmer a contradiction in terms?

Forests promise fertility, nourish top soil and ensure ample water. But no farmer ever farmed inside a forest. Because wild animals in good numbers make farming impossible. Because it is no longer a forest when the wilderness have made way for ploughing and sowing. The Forest Rights Act (FRA) 2006 — legislated to remedy the "historical injustice" done to forest people with no ownership of land or traditional resources — empowers the tribal and other traditional forest-dwellers. While the individual land right under the Act is limited to 4 hectares of self-cultivated land, community rights may extend to entire forests.

Right to own self-cultivated land does not necessarily amount to deforestation. Not all forest land holds forests and many such plots have long become farmlands. And the "forest-dwellers" demanding ownership of those plots are for all practical purposes 'farmers'. There is no point denying either on government records. But where the forestland does hold forests, felling is required if a forest-dweller decides to plough against all odds, if only to assert her occupation under the FRA. The yield may help subsistence. But it won't be farming in the vocational or the commercial sense. Unless an entire community collectively converts vast tracts of forests into farmland.

And therein lie two ironies. The switch to agriculture marked the beginning of the end of natural sustainability on earth. It also put us on the path to surplus, capital and inequality — the pet peeves of the Left. Yet the predominantly Left-led movement justifies the demand for forest land citing the farming needs of traditional forest-dwellers who, at least in theory, are hunter-gatherers. On the other hand, most conservationists view forest-dwellers as encroachers and are suspicious of every claim over forest land. Never mind that having exploited their share of forests and prospered, the non-forest-dweller has no moral right whatsoever to object even if every forest plot sanctioned under the FRA is chopped clean or sold off.This presents a complex scenario: Ploughing inside forests is not a farming solution. But that is no reason to deny the forest-dweller her rights over forest land, or go back to the sham of a joint forest management regime dominated by the forest department.

More than a decade after the FRA was legislated, the process of settlement of rights is still incomplete. Conservationists view this as a conspiracy to keep open the window to regularise the ongoing appropriation of forestland. Doubtless, our forests are coveted. Land is a finite resource and an overcrowded India has already exhausted most of what is not under forest cover. For every encroachment, however, the rights activist can cite an instance of willful denial of rights. Indeed, the delay in completing the settlement process is as much due to too many false claims as it is to concerted efforts by the forest and revenue administrations against encumbering forest land earmarked for development projects or simply giving up their fiefdom.

Any which way, forest-dwellers are the victims, even when they become pawns of the rich and the powerful. It is the state's job to curb misuse of the FRA. As the principle of justice goes, its failure to screen the undeserving cannot cost a genuine forest-dweller her rights. On their part, the rights activists should realise that forest-dwellers' community rights over common resources or cultural sites extending to larger or entire forest tracts is a much stronger, non-negotiable instrument of empowerment than individual rights over a plot of forest land which can be compensated and substituted if the state proposes rehabilitation in some perceived national interest. As the Niyamgiri resistance against Vedanta showed in Odisha, community rights over an entire forest is virtually unassailable. Even if the state can

afford to pay off for, say, an entire hill range, it cannot offer substitutes for culturally important sites and shift a population elsewhere. Yet, the focus tends to be on individual rights for farming.

Just as loan waiver alone cannot alleviate the farmer's plight, distributing plots of forest land to traditional dwellers, irrespective of how they utilise it, will not secure them. Systemic reforms take time. Since many farmers may not survive the wait, a loan waiver is perhaps justifiable as an SOS. If anything, the forest-dweller's lot is even worse than the farmer's. But their SOS solution involves finite forestland. Should they need it again, the farmer may still be able to squeeze the exchequer for more subsidies. But nothing can replenish the forest disbursed under the FRA if the mandate to remedy the "historical injustice" is squandered. The conservationist and the rights activist may still get real and dispel their mutual mistrust for good. Forests are not for farming. But the future of conservation and grass roots empowerment may lie in community-managed forests.